'तत्वमसि' वाक्य

[जैन-दर्शन और शांकर-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में]

—डा. दामोदर शास्त्री

प्रत्येक दर्शन परमतत्त्व के साक्षात्कार करने का मार्ग प्रशस्त करता है। जैसे विविध नदियाँ विविध मार्गों से बहती हुईं भी एक समुद्र में ही जाकर गिरती हैं, वैसे ही सभी दर्शनों का गन्तव्य स्थल एक ही है, मार्ग या प्रस्थान का क्रम भले ही पृथक्-पृथक् हो।[1]

प्रत्येक दर्शन की अपनी तत्त्व मीमांसा होती है, जिसके आधार पर वह सत्य की व्याख्या करता है। जैनदर्शन की भी एक सुदृढ़ दार्शनिक परम्परा भारत में प्राचीनकाल से विकसित होती रही है। जैन धर्म व दर्शन के प्रथम (वर्तमान कल्प के) व्याख्याता ऋषभदेव माने गए हैं। ये ऋषभदेव वे ही हैं जिन्हें भागवत पुराण में महान् योगी, तथा भगवान् का एक अवतार माना गया है।[2] यही कारण है कि जैन धर्म की शिक्षा में तथा भागवत पुराण के ऋषभ की शिक्षा में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है। दूसरी ओर, वेदान्त दर्शन भी वेद, उपनिषद्, गीता आदि के माध्यम से प्राचीनतम विचारधारा के रूप में पल्लवित होकर परवर्तीकाल में विविध शाखाओं वाले एक सुदृढ़ विशाल वृक्ष के रूप में फलता-फूलता रहा है।

दोनों दर्शनों के सम्बन्ध में सामान्यतः यही धारणा है कि वेदान्तदर्शन आस्तिक है और जैन दर्शन नास्तिक। आस्तिकता व नास्तिकता की परिभाषा के पचड़े में पड़ना यहां प्रासंगिक न होगा। हमारा तो यही मत है कि जो भी धर्म या दर्शन आत्मा, पुर्नजन्म, परलोक, कर्म-बन्ध, कर्म-मोक्ष आदि तत्त्वों को मानता हो, वह आस्तिक ही है। आचार्य पाणिनि तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि भी उक्त मत का प्रतिपादन करते हैं।[3] इस दृष्टि से दोनों दर्शन आस्तिक ही हैं।

दोनों दर्शनों में कुछ साम्य है, वैषम्य भी है। विषमता पर विचार करना परस्पर दूरी पैदा करता है। फलस्वरूप अज्ञानता बढ़ती है, भ्रान्तियाँ पनपती हैं। प्रायः जनता में विषमता को ही उजागर किया जाता रहा है जिससे सम्प्रदायवाद तथा परस्पर कटुता बढ़ती रही है। यहाँ दोनों की समानता के तथ्यों में से एक तथ्यविशेष पर प्रकाश डालना प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य है।

---

1. (क) रघुवंश 10/26, गीता—11/28, मुण्डकोप. 3/2/8, भागवत पु. 10/87/31, बृहदा. उप. 2/4/11, प्रश्नोप. 6/5, महाभारत-शांति पर्व—2/9/42-43।
   (ख) ज्ञानसाराष्टक (यशोविजय)—16/6, सिद्धसेन—द्वात्रिंशिका—5/15।
2. भागवत पु. 5/3-6 अध्याय।
3. अष्टाध्यायी (पाणिनि) सू. 4/4/60, तथा महाभाष्य (पतञ्जलि)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदान्त दर्शन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस महावाक्य के माध्यम से मुमुक्षु आत्मा को परब्रह्म से एकता हृदयंगम कराई गई है। उक्त महावाक्य (शांकर) वेदान्त तथा जैनदर्शन, दोनों में समान रूप से उपयोगिता रखता है। किन्तु दोनों दर्शनों में उसकी उपयोगिता के प्रतिपादन की रीति भिन्न-भिन्न है। जैन-दर्शन में इस महावाक्य की उपयोगिता किस प्रकार प्रतिपादित/स्वीकृत है—इसे समझने से पूर्व यह समझना उचित होगा कि जैनदर्शन का वेदान्त विचारधारा के प्रति क्या दृष्टिकोण है, उसकी तत्त्व/सत्य को परखने-समझने की पद्धति क्या है, तथा परमात्म-तत्त्व व आत्मतत्त्व के स्वरूप को किस रूप में स्वीकारा गया है। जैन-दर्शन की मौलिक तत्त्वमीमांसा या सत्य-परीक्षण की पद्धति का परिचय निम्न प्रकार है—

तत्व-दर्शन की जैन-पद्धति

जैनदृष्टि से तत्त्व अनिर्वचनीय है।[4] किन्तु उस अनिर्वचनीयता की प्रतिष्ठापना जिस विचार-पद्धति द्वारा की गई है, वह विशेष मननीय है। हमारा, सामान्य जन का, ज्ञान सोपाधिक (विभावज्ञान) होता है।[5] सर्वज्ञ केवली, तीर्थंकर आदि इसके अपवाद हैं। इन्द्रियों की दुर्बलता या विकृति होने पर तो हमें वस्तु का सही ज्ञान हो ही नहीं पाता, किन्तु यदि इन्द्रियाँ अविकृत व सक्षम हों तो भी संसार की सभी वस्तुओं को हम नहीं देख सकते। किसी एक वस्तु को भी देश व काल की उपाधि के साथ ही जान पाते हैं, अर्थात् किसी वस्तु की अतीत व अनागत स्थिति को नहीं जान पाते, इसी तरह अत्यन्त दूरी या किसी आवरण व व्यवधान के होने पर भी किसी वस्तु को नहीं देख पाते। जो वस्तु दिखाई भी पड़ती है, उसका भी बाह्य स्थूल रूप ही हमें दृष्टिगोचर हो पाता है। वस्तु का बाहरी रूप प्रतिक्षण निरन्तर परिवर्तनशील है। बीज से वृक्ष पैदा हुआ। वृक्ष को काटा तो लकड़ी बनी। लकड़ी जली और कोयला बन गई। कोयला जला तो राख बन गया। वृक्ष और राख—इन दोनों स्थितियों के मध्य हमें विविध अवस्थाएँ तो दिखाई पड़ती हैं, किन्तु इन विविध अवस्थाओं में भी एक आधारभूत तत्त्व, जो उत्पत्ति व नाश की प्रक्रिया से सर्वथा असम्पृक्त है, दृष्टिगोचर नहीं हो पाता। वस्तुतः तत्त्व का समग्र रूप तो सृजन, ध्वंस और स्थिति (ध्रुवता) की त्रिलक्षणता में निहित है।[6]

हमारी दृष्टि या तो संश्लेषणात्मक होती है तो कभी विश्लेषणात्मक। संश्लेषणात्मक दृष्टि केवल ध्रुव तत्त्व पर केन्द्रित रहती है, और विश्लेषणात्मक दृष्टि सृजन-ध्वंसात्मक परिवर्तन पर। एक उदाहरण लें—गाय दूध देती है, दूध से दही बनता है, दही से लस्सी बनती है। इन परस्पर पदार्थों में हमारा व्यवहार कभी भेदपरक होता है तो कभी अभेदपरक।[7] जैसे, कोई दवाई दूध से ली जाती है, तो कोई दवाई दही से। दूध से लेने वाली दवाई कभी दही से नहीं ली जाती, और दही से ली जाने वाली दवा कभी दूध से नहीं ली जाती। यहां दवा लेने वाले व्यक्ति की दृष्टि भेदपरक/विशेषपरक है। किन्तु किसी व्यक्ति को डाक्टर ने गोरस-सेवन का परामर्श दिया हो, या किसी व्यक्ति ने गोरस-त्याग का व्रत लिया हो, उसकी

---

4. तत्त्वं वागतिवर्ति (पद्मनन्दि पंचविंशतिका—11/10, 23/20)।

5. नियमसार—11 (आ. कुन्दकुन्द)।

6. प्रवचनसार (कुन्दकुन्द)—100-101, तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति)—5/29, पंचाध्यायी (पं. राजमल)—1/90-92, 86।

7. सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोक-संव्यवहारः (सर्वार्थसिद्धि—1/33)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि में दूध और दही दोनों ही समान हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि दूध, दही, लस्सी इन सब में एक 'गोरस' तत्त्व समान रूप से अनुस्यूत है, जो ध्रुव है। इसी प्रकार सोने के विविध आभूषणों में परस्पर-भिन्नता भी है, सुवर्णत्व की दृष्टि से अभेद भी है। सुवर्ण का अभ्यर्थी किसी भी आभूषण को समान रूप से देखेगा। किन्तु सुवर्णकलशार्थी तथा सुवर्णमुकुटार्थी इन दोनों में, पहले व्यक्ति को दुःख और दूसरे को सुख उस समय होगा जब सुवर्णकलश को तोड़कर सुवर्णमुकुट बनाया जाता होगा, जबकि सुवर्ण के अभ्यर्थी को न दुःख होगा और न सुख।[8] अस्तु,

संश्लेषणात्मक दृष्टि में वस्तु नित्य, अविनश्वर, सत्, एक, सामान्य, व अभेदात्मक है, जबकि विश्लेषणात्मक दृष्टि में वह अनित्य, क्षणिक, असत्, अनेक, विशेष व भेदरूप है। वस्तुतः वस्तु समग्ररूप में भेदाभेदात्मक, सदसदात्मक, एकानेकात्मक, सामान्य-विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक है।[9] इस तरह प्रत्येक वस्तु परस्पर-विरुद्ध अनेक अनन्त धर्मों का अधिष्ठान है।[10]

विचार-अभिव्यक्ति के क्षेत्र में प्रत्येक वस्तु की सत्ता सापेक्ष होती है—अर्थात् वह अपेक्षाभेद से सद्रूप व असद्रूप – दोनों होती है। वस्तुतः नित्यत्व धर्म अनित्यत्व धर्म का अविनाभावी है।[11] जैन दृष्टि से भाव की तरह अभाव भी वस्तुधर्म है।[12] घड़ा है—इस कथन में 'है' यह पद घड़े की आपेक्षिक सत्ता को ही व्यक्त करता है, न कि निरपेक्ष सत्ता को। वह नियत स्थान, क्षेत्र, रूप, आकार, गुण विशेष की सत्ता को ही द्योतित करता है। दार्शनिक भाषा में घड़ा 'घड़ा' रूप में ही है, अर्थात् वह अन्य द्रव्यरूप (पट आदि) में बहुत कुछ 'नहीं' भी है, वह पार्थिव है, भौतिक है, अचेतन है; किन्तु वह जलात्मक, अभौतिक या चेतन आदि नहीं भी है। अपने नियत अवयवों से, अपने ही नियतकाल से, अपने नियत गुणादि से सम्बद्धता की अपेक्षा से ही उसका अस्तित्व है। संक्षेप में, प्रत्येक द्रव्य अनन्तानन्त स्वतन्त्र इकाइयों में विभक्त है, प्रत्येक इकाई भी अनन्त-अनन्त त्रैकालिक अवस्थाओं में विभक्त है। पूर्ण सत्य वही कहा जाएगा—जो द्रव्य की समष्टि को अपने अन्दर समेटने की क्षमता रखता हो। कहना न होगा कि सीमित ज्ञान-शक्ति वाले सांसारिक प्राणी समग्र वस्तु का साक्षात्कार कभी नहीं कर पाते, और कुछ जान भी पाते हैं तो धर्मों की परस्परविरुद्धता को वाणी से कह भी नहीं पाते। चूंकि भाषा की शक्ति सीमित है, इसलिए वस्तु के परस्पर-विरुद्ध धर्मों का, या उसके अनन्त धर्मों का, अथवा उसकी भेदाभेदात्मकता, नित्यानित्यात्मकता आदि का, एक साथ कथन सम्भव नहीं है, इसलिए वस्तु 'अवक्तव्य' है। वास्तव में हमारा सारा शाब्दिक व्यवहार, अभिप्राय-विशेषवश वस्तु के अनन्तधर्मों तथा परस्परविरुद्ध अनेक धर्म-युगलों में किसी एक ही धर्म-विशेष पर केन्द्रित रहता है। उक्त धर्मविशेषाश्रित कथन पूर्ण 'असत्य' नहीं; तो पूर्ण सत्य भी नहीं कहा जा सकता। जैनदृष्टि से यह 'सत्य का अंश' कहा जाता है।[13]

---

8. आप्तमीमांसा (समन्तभद्र)—69, 59, अध्यात्मोपनिषद् (यशोविजय) 1/44, तुलना—पातंजल महाभाष्य—1/1/1, योगसूत्रभाष्य—4/13, प्रवचनसार—2/101-102।
9. पद्मनन्दि पंचविंशतिका—4/59।
10. अनन्तधर्मणस्तत्त्वम् (समयसार-कलश—आ० अमृतचन्द्र—2)।
11. सम्मतितर्क (सिद्धसेन)—3/1-4, प्रवचनसार—2/100-101।
12. युक्त्यनुशासन (समन्तभद्र)—59, न्यायावतार (सिद्धसेन)—16, सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद)—9/2।
13. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (विद्यानन्दि)—1/6 सूत्र पर श्लोक सं. 6, जैन तर्कभाषा (यशोविजय)—नय विवरण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह तो हुई सामान्यजनों की बात। सर्वज्ञ केवली तीर्थंकर भी, जिन्हें सम्पूर्ण लोक के अनन्त पदार्थों का, तथा उनकी अनन्त इकाइयों—अनन्त त्रैकालिक सूक्ष्म-स्थूल अवस्थाओं को स्पष्ट देखने की शक्ति प्राप्त है,[14] भाषा की सीमित शक्ति के कारण वस्तु को समग्र रूप से एक साथ कह नहीं पाते, यदि वे क्रमशः भी कहें तो अनन्त काल लग जाएगा। सर्वज्ञ तीर्थंकर ने अपने उपदेश में यह प्रयास किया है कि वस्तु के विविध सत्यांशों को क्रमशः उजागर किया जाय। किन्तु विडम्बना यह भी है कि जो कुछ भी उन्होंने कहा, उसमें से कुछ (अनन्तवाँ) भाग ही लिपिबद्ध किया जा सका;[15] और जो लिपिबद्ध भी हुआ उसमें से बहुत कुछ लुप्त हो चुका है।[16]

अनेकान्तवाद-स्याद्वाद पद्धति

जैन दर्शन ने 'परम सत्य' को समझने/समझाने/निरूपित करने के लिए अनेकान्तवाद व स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। अनेकान्तवाद वस्तु में परस्पर-विरुद्ध धर्मों की अविरोधपूर्ण स्थिति का तथा उसकी अनन्तधर्मात्मकता का निरूपण करता है। स्याद्वाद सीमितज्ञानधरी प्राणियों के लिए उक्त अनेकान्तात्मकता को व्यक्त करने की ऐसी—पद्धति निर्धारित करता है जिससे असत्यता या एकांगिता या दुराग्रह आदि दोषों से बचा जा सके। (१) 'यह वस्तु घड़ा ही है', (२) 'यह घड़ा है' (३) 'मेरी अपनी दृष्टि से, या किसी दृष्टि से (स्यात्) यह घड़ा है'—ये तीन प्रकार के कथन हैं। इनमें उत्तरोत्तर सत्यता अधिक उजागर होती गई है। अन्तिम कथन परम सत्य को व्यक्त करने वाली विविध दृष्टियों तथा उन पर आधारित कथनों के अस्तित्व को संकेतित करता हुआ परम सत्य से स्वयं की सम्बद्धता को भी व्यक्त करता है। इसलिए वह स्वयं में एकांगी (एकधर्मस्पर्शी) होते हुए भी असत्यता व पूर्ण एकांगिता की कोटि से ऊपर उठ जाता है। जैसे, अंजुलि में गृहीत गंगाजल में समस्त गंगा की पवित्रता व पावनता निहित है, उसी तरह उक्त कथन में सत्यता निहित है। वास्तव में अपने कथन की वास्तविक स्थिति (सापेक्षता का संकेत) बताने से सत्यता ही उद्भासित हो जाती है। जैसे, कोई मूर्ख व्यक्ति यह कहे कि "मैं पंडित हूँ, किन्तु मैं झूठ बोल रहा हूँ" तो वह असत्य बोलने का दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने अपने कथन की वास्तविकता को भी उजागर कर दिया है। ठीक वही स्थिति 'स्यात् घट है' इस कथन की है। यहाँ 'स्यात्' पद से कथन की एकधर्मस्पर्शिता व्यक्त की जा रही है, साथ ही अन्य विरोधी दृष्टि से जुड़े विरुद्धधर्म की सत्ता से भी अपना अविरोध व्यक्त करता है, जिससे उक्त कथन 'सत्य' की कोटि में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही जैन-दर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त का हार्द है।

विविध प्रस्थानों में वेदान्त दर्शन: जैन दृष्टि से

जैन दर्शन की दृष्टि में सभी विचार-भेदों में वैयक्तिक दृष्टिभेद कारण है। वास्तव में उनमें विरोध है ही नहीं। विरोध तो हमारी दृष्टियों में पनपता है। वस्तु तो सभी विरोधों से ऊपर है। एक ही व्यक्ति किसी का पिता है, किसी का बेटा है, किसी का भाई है तो किसी का पति। उस व्यक्ति का प्रत्येक सम्बन्धी-जन दृष्टिविशेष से जुड़ा हुआ है। वस्तुतः व्यक्ति पितृत्व, पुत्रत्व आदि विविध धर्मों का

---

14. तत्त्वार्थसूत्र—1/29, प्रवचनसार—6/37-42, 47-52।
15. सन्मतितर्क—2/16, राजवार्त्तिक—1/26/4, विशेषावश्यकभाष्य-1094-95, 140-142, आवश्यकनिर्युक्ति 89-90, द्वादशार नयचक्र (चतुर्थ आरा)—पृ. 5, पद्मपुराण—105/107, उग्रादित्यकृत कल्याणकारक–1/49, पृ. 16, षट्खण्डागम—धवला-पुस्तक-12, पृ 171।
16. तिलोय पण्णत्ति (यतिवृषभ)— 4/757, 1471, 1583, 2032, 2366, 2753, 2889 आदि-आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुञ्ज भी है ।[17] यही स्थिति परमसत्य के विषय में है । सभी दर्शन अपनी-अपनी दृष्टि से उसका निरूपण करते हैं, किन्तु उन सभी ज्ञात-अज्ञात दृष्टियों का समन्वित रूप ही परम सत्य है । समस्त दृष्टियों को सात वर्गों में जैन आचार्यों ने विभाजित किया है और इन्हें 'नय' नाम से अभिहित किया है । नयों की संख्या सात है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत ।

इनमें से कोई नय (व्यवहार) भेदग्राही है, कोई (संग्रह) नय अभेदग्राही है ।[18] कोई (नैगम) नय संकल्प में स्थित भावी या भूत पदार्थ को विषय करता है तो कोई (ऋजुसूत्र) नय सामान्यजनोचित व्यवहारानुरूप सामान्य-विशेष आदि अनेक धर्मों को विषय करता है, या कार्यकारण, आधार-आधेय की दृष्टि से वस्तु का औपचारिक कथन के आश्रयण को स्वीकृति प्रदान करता है । कोई (ऋजुसूत्र) नय अतीत अनागत रूपों को ओझल कर मात्र वर्तमान प्रत्युत्पन्नक्षणवर्ती स्थिति को ग्रहण करता है तो कोई (शब्द) नय काल, लिंग, कारक आदि भेद पर आधारित वाच्य पदार्थ के भेद पर, और कोई (समभिरूढ़) नय पर्याय-भेद से वाच्य पदार्थ-गत भेद पर बल देता है—अर्थात् पदार्थगत स्थिति के अनुरूप ही पर्याय-विशेष के शाब्दिक प्रयोग को उचित ठहराता है । कोई नय (एवम्भूत) अतीत व अनागत पदार्थगत रूपों के स्थान पर वर्तमान अवस्था के अनुरूप ही उस पदार्थ के लिए वाचक शब्द का प्रयोग उचित ठहराता है । व्यवहार में हम सभी किसी न किसी दृष्टि (नय) का आश्रय लेते हैं ।[19]

उक्त सभी नयों को दो दृष्टियों में भी बाँटा गया है । वे हैं—द्रव्यास्तिक (अभेदग्राही) व पर्यायास्तिक (भेदग्राही) । सत्यान्वेषी के लिए दोनों दृष्टियां समान रूप से आदरणीय मानी गई हैं, वे दो आँखों के समान कही गई हैं ।[20] जिस प्रकार मथानी के चारों और लिपटी रस्सी के दो छोरों को दोनों हाथों में लेकर मक्खन निकाला जाता है, उस समय एक छोर को अपनी ओर खींचते हुए दूसरे छोर को ढीला किया जाता है, फिर दूसरे छोर को खींचते हुए पहले छोर को ढीला किया जाता है । उसी प्रकार सत्यान्वेषी को चाहिए कि वह उभय नय को क्रम-क्रम से प्रधानता-गौणता प्रदान करते हुए तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करे,[21] और ज्ञान प्राप्त करने के बाद प्रसंगानुरूप किसी दृष्टि को हेय या उपादेय करे ।[22]

प्रत्येक नय अपने दूसरे नयों के साथ संगति/समन्वय/अविरोध रखे तो वह अनादि अविद्या (मिथ्यात्व) को दूर करने तथा मोक्षोपयोगी ज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक हो सकता है, अन्यथा नहीं ।[23]

वास्तव में प्रत्येक नय अपने आप में—अपनी अपनी मर्यादा में—सत्यता लिए हुए है, परन्तु अन्य नयों का निराकरण व विरोध प्रदर्शित करने से ही वह 'असत्य' बन जाता है ।[24]

---

17. सन्मतितर्क—3/17-18
18. अध्यात्मसार—18/88
19. द्रष्टव्य – तत्त्वार्थसूत्र—1/33, तथा उस पर राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि तथा श्लोकवार्तिक आदि । स्याद्वाद मंजरी—का. 28, आलाप पद्धति—5, बृहद् नयचक्र—185, हरिवंश पुराण—58/41 ।
20. समयसार—113-115 पर तात्पर्यवृत्ति ।
21. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—225
22. क्षत्रचूडामणि—2/44, आदिपुराण—20/156-157, उत्तरपुराण—74/549, 56/73-74, नियमसार—52, तथा तात्पर्यवृत्ति गाथा—43 (नियमसार) पर ।
23. सर्वार्थसिद्धि—1/33, राजवार्तिक—1/33/12, सन्मतितर्क—3/46, 1/21-27, स्वयम्भूस्तोत्र—1, आप्तमीमांसा—108, गोम्मटसार—कर्म० 895, कषायप्राभृत—1/13-14, नयचक्र—श्रुत० 11, कार्तिकेयानुप्रेक्षा—266, धवला—9/4,1,45, अध्यात्मोपनिषद् (यशोविजय)—1/36 ।
24. सन्मतितर्क—1/28, ज्ञानसाराष्टक (यशोविजय)—32/2 ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदृष्टि से प्रत्येक भारतीय दर्शन किसी न किसी 'नय' से सम्बद्ध है। एक ओर मीमांसक, अद्वैतवादी व सांख्य दर्शन अभेदवादी द्रव्यास्तिक नय को अंगीकार करते हैं, तो दूसरी ओर बौद्धदर्शन भेदवादी पर्यायास्तिक नय को।[25] चार्वाकदर्शन व्यवहार नय को, बौद्ध ऋजुसूत्र नय को, नैयायिक-वैशेषिक नैगम नय को, तथा सांख्य व अद्वैतवादी संग्रहनय को अंगीकार कर वस्तु तत्त्व का निरूपण करते हैं।[26]

इन सभी नयों तथा उनके आश्रयित दर्शनों के प्रति जैनाचार्यों की अपनी तटस्थ दृष्टि रही है। इतना ही नहीं, कुछ स्थलों में उनके प्रति पूर्ण आदर भी व्यक्त किया है। जैनाचार्यों ने स्पष्ट कहा है—सभी शास्त्रकार महात्मा तथा परमार्थ (उच्च) दृष्टि वाले हैं, वे मिथ्या बात कैसे कह सकते हैं?[27] वस्तुतः उनके अभिप्रायों में भिन्नता है, इसलिए उनके कथन में परस्पर-भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि जितने अभिप्राय होंगे उतनी दृष्टियाँ होंगी और तदनुरूप उतने ही वचन या व्याख्यान के प्रकार होंगे।[28] सच्चा जैनी सभी दर्शनों की एकसूत्रता को ध्यान में रखता है। शास्त्रज्ञ वही है जो सभी दर्शनों को समान आदर से देखता है।[29] सच्चा जैनी अभिमानवश अन्य धर्मों का तिरस्कार नहीं करता।[30] वह सभी दृष्टियों को मध्यस्थता से ग्रहण करता है।[31] मदोद्धत होकर अपने ज्ञान व मत/सम्प्रदाय की महत्ता की प्रशंसा तथा दूसरे की निन्दा से वह दूर रहना पसन्द करता है।[32] आचार्य सिद्धसेन ने स्पष्ट सुझाव प्रस्तुत किया कि दूसरे दर्शनों/धर्मों के सिद्धान्तों को जानना चाहिए, और जान कर सत्य को पुष्ट करने का प्रयास करना चाहिए, किन्तु उनका खण्डन करने का विचार कदापि उचित नहीं।[33] व्यर्थ या शुष्क वाद-विवाद से हमेशा बचना चाहिए, क्योंकि उससे किसी तत्त्व तक पहुँचना सम्भव नहीं होता।[34] जैन मत में बुद्ध तत्त्व (परमपद/परमात्मतत्त्व) की प्राप्ति मध्यस्थ/उदार दृष्टिकोण वाले को ही होती है।[35] मध्यस्थ भाव के साथ किया गया एक पक्ष का ज्ञान भी सार्थक है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों के पढ़ने से भी कोई लाभ नहीं।[36]

कठिनाई यह है कि दर्शन अभिप्राय-भेदों पर ध्यान न देकर परस्पर विवाद में उलझ जाते हैं।[37] जब भी कोई दर्शन दुराग्रहवाद से ग्रस्त हो जाता है, अपनी ही प्रशंसा और दूसरों को अप्रामाणिक बताकर उनकी निन्दा करता है, तो ज्ञान व कर्म की ग्रन्थियों को सुलझाने की अपेक्षा और अधिक उलझा देता है।[38] जैसे कई अन्धे व्यक्ति किसी विशालकाय हाथी को स्पर्श कर, पृथक्-पृथक् आंशिक रूप से तो

---

25. स्याद्वाद मंजरी, का. 14
26. जैनतर्कभाषा—नयपरिच्छेद, तथा स्याद्वाद मंजरी, का. 14।
27. शास्त्रवार्तासमुच्चय—3/15
28. सन्मतितर्क—3/47
29. अध्यात्मोपनिषद्—1/70
30. रत्नकरण्डश्रावकाचार—26
31. ज्ञानसार (यशोविजय)—32/2
32. प्रशमरतिप्रकरण (उमास्वाति)—91-109
33. द्वात्रिंशिका 8/19, अष्टक प्रकरण—12/1-8
34. यशोविजय कृत द्वात्रिंशिका—8/1-8, 23/1-17, 32, अध्यात्मोपनिषद्—1/74
35. ज्ञानसाराष्टक—15/6, समयसारकलश—341, 248-261
36. अध्यात्मोप. 1/73
37. सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशिका—20/4
38. विशेषावश्यकभाष्य—62, सूत्रकृतांग—1/1/23, पद्मनन्दि पंच. 4/5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जान लेते हैं, किन्तु कोई अन्धा पूर्ण समग्र ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता,[39] क्योंकि पूर्ण समग्र दर्शन खुली आँखों से, उदार/व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर ही सम्भव है।

इस प्रकार, जैनदृष्टि से वेदान्तदर्शन एक दृष्टिकोण है, जिसे ग्रहण किए बिना पूर्ण सत्य का ज्ञान सम्भव नहीं। इतना ही नहीं, कई विषयों में वेदान्त व जैन दर्शन दोनों की विचार-समता दृष्टिगोचर होती है।

वेदान्तदर्शन, विशेषकर शांकर अद्वैतदर्शन, सामान्यग्राही है। उसकी घोषणा है—एकमात्र ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है—'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'। जैनदर्शन में भी ब्रह्मस्थानीय 'समस्त पदार्थ-व्यापी' एक परम सत्ता की कल्पना की गई है।[40] किन्तु जहाँ शांकर वेदान्तसम्मत ब्रह्म 'प्रज्ञानघन' है,[41] वहाँ जैनसम्मत उक्त परमसत्ता चिदचिद्-उभयद्रव्यव्यापी है।

द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य का कथन करते समय, समस्त गुण-भेद की, तथा गुण-गुणीभेद की वासना मिट जाती है, और एक 'अखण्डद्रव्य' प्रतीति में आता है।[42] इस प्रकार, जैनदर्शन तथा वेदान्त दर्शन (शांकर)—दोनों ही 'एक तत्त्व' की कल्पना में सहभागी दृष्टिगोचर होते हैं।

ब्रह्म (परमतत्त्व) और जैनदृष्टि

सभी द्रव्यों/पदार्थों की सार्थकता आत्म द्रव्य की सिद्धि में निहित है,[43] और चूँकि आत्मा सभी तत्त्वों में उत्कृष्ट है,[44] अतः वही 'परमतत्त्व' है।[45] शुद्धात्मा-प्राप्ति ही निर्वाण है, इसलिए जैन परम्परा में निर्वाण को भी 'परमतत्त्व' कहा गया है।[46] जीवादि संसारी बाह्य तत्त्व हेय हैं,[47] और 'परमतत्त्व' ही उपादेय और आराध्य है।[48] यहाँ 'परमात्म तत्त्व' से शुद्धात्मा (संसार-मुक्त) ग्राह्य है, संसारी आत्मा नहीं।[49] शुद्धात्मा को ही जैन शास्त्र में 'ब्रह्म', 'परब्रह्म'[50] और 'सहज तत्त्व'[51] भी कहा गया है।

आत्म-तत्त्व के ज्ञात होने पर कुछ ज्ञातव्य नहीं रह जाता, अतः आत्म-ज्ञान की महत्ता सर्वोपरि है—इस विषय में उपनिषदों[52] तथा जैनदर्शन का[53] समान मन्तव्य है।

---

39. पद्मनन्दि पंच. 4/7, तुलना—यशोविजयकृत द्वात्रिंशिका-16/25
40. पंचास्तिकाय-8, प्रवचनसार-2/5, सर्वार्थसिद्धि-1/33, पंचाध्यायी-1/8, 264, तत्त्वार्थभाष्य-1/35 [तुलना—मैत्रायणी उप. 4/6, छान्दोग्य उप. 6/2/1]
41. बृहदा. उप. 2/4/9 (शांकरभाष्य)।
42. प्रवचनसार टीका—1/6 (तत्त्वदीपिका)।
43. अध्यात्मसार-18/3
44. नियमसार-92
45. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-204, पद्मनन्दि पंच. 4/44, 23/12
46. योगदृष्टिसमुच्चय-129, 132
47. नियमसार-38
48. पद्मनन्दि पंच-4/44, 60, 75, 22/1-2
49. समयसार-38 पर तात्पर्यवृत्ति टीका
50. नियमसार कलश-25, मोक्षप्राभृत-2, ज्ञानसाराष्टक 8/7, 2/4, 16/6, परमात्मप्रकाश-171
51. नियमसार कलश-176, 184,
52. उपदेशसाहस्री-सम्यग्मति प्रकरण-1-7, बृहदा. उप. 2/4/13-14, 4/5/6, 4/4/12, श्वेता. उप. 1/12, केनोप. 2/13, मुंडकोप. 1/1/3-6
53. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-4/79, भगवती आराधना, 1/9, पद्मनन्दि पंच. 4/20-21, अध्यात्मसार-18/2-3, समयसार गाथा-15 पर तात्पर्यवृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्तवादी जैनदर्शन में सामान्य तत्त्वों को देखने-समझने-परखने के लिए दृष्टियों-नयों (द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक,, तथा नैगम आदि सात नयों) की कल्पना है, वैसे ही आत्म-तत्त्व को अध्यात्म-साधना के सन्दर्भ में हृदयंगम करने हेतु दो अन्य विशिष्ट नयों का निरूपण किया गया है। वे हैं—(१) व्यवहारनय, और (२) निश्चयनय।

निश्चयदृष्टि वस्तु में अभेद देखती है। व्यवहारदृष्टि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव—इन चारों में से किसी एक प्रकार से या अनेक प्रकार से भेद देखती है, और कभी-कभी पर-द्रव्य के गुणों/धर्मों को भी किसी द्रव्य में औपचारिक दृष्टि से आरोपित कर लेती है। निश्चयदृष्टि की दो कोटियाँ हैं। निचली कोटि (अशुद्ध) आत्म द्रव्य के उन्हीं धर्मों/गुणों को स्वीकार करती है जो परानपेक्ष हों, अर्थात् आत्मा के स्वभाव-भूत धर्मों को ही अंगीकार करती है, किन्तु निश्चयनय की उच्च (शुद्ध) कोटि आत्म द्रव्य के स्वभावभूत गुणों/धर्मों/त्रैकालिक भावों/अवस्थाओं में भी अभेद देखती है, अर्थात् रागादिनिर्मुक्त अखण्ड 'चिन्मात्र' परमतत्त्व का विषय करती है।[54] अद्वैत दृष्टि (शुद्ध निश्चयनय) से आत्मा के बन्ध, मोक्ष, राग, द्वेष, आदि कुछ भी नहीं है। वह सर्वथा शुद्ध व मुक्त है।[55]

शांकर वेदान्तदर्शन में पारमार्थिक, व्यावहारिक व प्रातिभासिक—ये तीन सत्ताएँ मानी गई हैं। इनमें पारमार्थिक व व्यावहारिक सत्ताएँ जैनसम्मत निश्चयनय व व्यवहारनय से सम्बद्ध प्रतिपादित की जा सकती है।

जैन मान्यता के अनुसार, व्यवहारदृष्टि से द्वैत बुद्धि और निश्चयनय से अद्वैत बुद्धि उत्पन्न होती है।[56] द्वैत बुद्धि संसार को—बन्ध को बढ़ाती है, और अद्वैत बुद्धि मोक्ष की ओर परमात्मता की ओर ले जाती है।[57] ज्ञानी व्यक्ति हेयोपादेय-विशेषज्ञ होता है, इसलिए वह दोनों दृष्टियों को जान कर, आत्मकल्याणकारी अद्वैत दृष्टि (निश्चयदृष्टि) को अंगीकार करता है। परम शुद्ध, एक, अखण्ड आत्मा—'चिन्मात्र' को विषय करने वाली शुद्ध निश्चयदृष्टि का अवलम्बन करने से साधक को अद्वैतरूपता प्राप्त हो जाती है।[58]

जैन दर्शन में शुद्ध परमात्मतत्त्व को 'परमार्थ' नाम से तथा इसे विषय करने वाले निश्चयनय को 'परमार्थदृष्टि' नाम से अभिहित किया गया है।[59] परमार्थदृष्टि से अभेद/अखण्ड तत्त्व की अनुभूति

---

54. समयसार, 141, समयसार कलश-9-10, 120, पद्मनन्दि पंच. 4/5, 17, 32, 75, समयसार गा. 56 व 272 पर आत्मख्याति, आलाप पद्धति-204, 216, प्रवचनसार-1/77 पर तात्पर्यवृत्ति, अध्यात्मसार-9/8, 18/12, 130, 173, 189, 275, 196, यशोविजयकृत द्वात्रिंशिका-21/9.

55. समयसार-14-15, 278-79, 141, पद्मनन्दि पंच. 11/17, परमात्मप्रकाश-65, प्रवचनसार-172, परमात्म-प्रकाश-68.

56. पद्मनन्दि पंच. 4/17,

57. पद्मनन्दि पंच. 4/32-33, 9/29, अध्यात्मसार-18/196,

58. पद्मनन्दि पंच. 4/31, 11/18, समयसार-186, 206, परमात्मप्रकाश-173

59. प्रवचनसार-2/1 ता. वृत्ति, समयसार-151 पर टीकाएँ (आत्मख्याति व तात्पर्यवृत्ति) छहढाला-पुस्तक-13, पृ. 280, 286

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का होना वैदिक[60] एवं जैन[61] दोनों शास्त्रों में समान रूप से माना गया है। आ. शंकर 'परमार्थ' का वर्णन करते हुए इसे अद्वैत दर्शन में कारण मानते हैं। आचार्य शंकर का वचन 'निश्चयेन ब्रह्माहमस्मि' —'इत्यपरोक्षीकृत्य'[62] हमें जैन दर्शन के निश्चयनय का स्पष्ट ध्यान कराता है।

वेदान्तदर्शन की तरह ही,[63] जैनदर्शन का भी चरम लक्ष्य जीव-ब्रह्म की एकता या शुद्ध चैतन्य स्वरूप की अधिगति (प्राप्ति) में पर्यवसित हो जाता है।[64]

जैन दृष्टि से अभेददृष्टि परमब्रह्म तक जाने का, उससे एकात्मता-प्राप्ति का, अर्थात् स्वस्वरूप-स्थिति पाने का एकमात्र साधन है। वस्तुतः तो परमतत्त्व सभी नयों/दृष्टियों से अतीत है।[65] 'नय' एक पक्ष है, उसका काम परमब्रह्म तक का मार्ग दिखाना मात्र है। परमात्मता प्राप्ति होने पर साधक-साध्य, उपासक-उपास्य, हेय-उपादेय-सभी भाव स्वतः समाप्त हो जाते हैं और शुद्ध चिन्मात्र रूप अवशिष्ट रह जाता है।[66] आ. शंकर के मत में भी ब्रह्म की सत्ता अखण्ड है, मन, वाणी व इन्द्रियों से अतीत है, देश-काल आदि मर्यादाओं से अमर्यादित है। उसका व्याख्यान नेति नेति ही हो सकता है।[67] ब्रह्म सच्चिदानन्द है,[68] अपने मूल रूप से कभी भी व्यभिचरित न होने के कारण सत् है, चैतन्य है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।[69] जैनदर्शन भी परमतत्त्व को अखण्ड, नेति-नेति द्वारा वर्ण्य स्वरूप वाला, तथा अवाङ्मनोगोचर मानता है।[70] वेदान्तदर्शन में संसारी जीव व परमात्मतत्त्व 'परब्रह्म' में भेद का कारण/आधार अविद्या या अज्ञान है, वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं है।[71] इस अज्ञान का निरस्तीकरण पारमार्थिक ज्ञान से हो जाता है। अविद्या के निरस्त हो जाने पर जीव ब्रह्मरूपता प्राप्त कर लेता है।[72]

---

60. एकत्वं पारमार्थिकम्, मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्-(ब्रह्मसूत्र-2/1/14 पर शांकर भाष्य)। द्र. विष्णुपुराण-1/2/6, 10-13, 2/14/29-31, 2/15/34-35, 2/16/24, 6/8/100, ब्र. सू. 1/1/4/4 (शांकरभाष्य)। ब्र. सू. 2/1/27 (शांकरभाष्य), भागवत पुराण-5/12/11
61. समयसार-8 पर आत्मख्याति व तात्पर्यवृत्ति टीका, समयसार-कलश-18
62. श्वेता. उप. 4/11 पर शांकर भाष्य
63. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृहदा. उप. 2/4/5)। विषयो जीव-ब्रह्मैक्यं, शुद्ध चैतन्यं प्रमेय तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात् (वेदान्तसार-4)। आत्मैकत्व-विद्या-प्राप्तये सर्वे वेदान्ता आरभन्ते (ब्र. सू. शांकर भाष्य, प्रस्तावना)।
64. पद्मनन्दि पंच. 4/20-21, कार्तिकेयानुप्रेक्षा-4/79, अध्यात्मसार-18/2, इष्टोपदेश-49,
65. समयसार-142, पद्मनन्दि-11/53, 42-43, समयसारकलश-4, 9,
66. प्रवचनसार-2/80, ज्ञानसाराष्टक (निर्लेपाष्टक), ज्ञानसार-26/3,
67. वेदान्तसार, 1/1, तैत्ति. उप. 2/4. केनोप. 1/3, 4, मुण्डकोप-3/1/8, गीता-11/8, बृहदा. उप. 4/5/15, कठोप-2/6/12, मांडूक्योप-7, उपदेशसाहस्री-सम्यग्मति प्रकरण-71
68. वेदान्तसार-1, योगतत्वोप. 17,
69. तैत्ति. उप. 2/1,
70. आचारांग-5/6/123-125, समयसार-142, पद्मनन्दि पंच. 11/2, 53, 42-43, परमात्मप्रकाश-19-22, समयसार कलश-4-9,
71. अविद्याकल्पितं वेद्यवेदितवेदनादिभेदम् (ब्र. सू. शांकर भाष्य-1/1/4)। मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदः, न वस्तुकृतः (शांकरभाष्य-ब्र. सू. 1/3/19)। अविद्या-निवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं परप्राप्तिः (तैत्ति. उप. शांकरभाष्य-प्रस्तावना)। अविद्या-निवृत्तिरेव मोक्षः (मुण्डकोप-1/5 शांकरभाष्य)।
72. ब्रह्मसूत्र-2/1/20, शांकरभाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में भी परमतत्त्व 'सच्चिदानन्द' रूप है।[73] संसारी जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर, आत्मानात्मविवेक के अनन्तर, रागादि कर्म का क्षय कर सर्वज्ञता तथा सच्चिदानन्दरूपता क्रमशः प्राप्त कर लेता है।[74]

उपर्युक्त दृष्टियों से आ. शंकर तथा जैन दृष्टि में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है।[75]

तत्त्वमसि वाक्य

वेदान्तदर्शन में 'तत्त्वमसि,'[76] 'अहं ब्रह्म अस्मि'[77] 'यत्र नान्यत्पश्यति,[78] न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येद्'[79]—इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों के आधार पर परमात्मा व जीवात्मा की एकरूपता को स्वीकारा गया है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ है—वह तू है। 'वह' से तात्पर्य है—परोक्ष व सर्वज्ञत्व आदि गुणों से विशिष्ट चैतन्य। तत् से तात्पर्य है—प्रत्यक्ष व अल्पज्ञत्व आदि गुणों से विशिष्ट चैतन्य। अर्थात् शुद्ध चैतन्य तथा अज्ञानोपहत चैतन्य—दोनों एकरूप हैं। 'तत्त्वमसि' वाक्य के श्रवण-मननादि से जीव को अपने स्वरूप का भान होता है और जीव ब्रह्मरूपता प्राप्त कर लेता है।[80]

जैनदर्शन के अनुसार मुक्त आत्मा स्वशुद्धात्मरूप परब्रह्म से विभक्त होकर नहीं रहती। वास्तव में शुद्ध निश्चयनय के विषय परमात्मतत्त्व की भावना व ध्यान के सोपान पर चढ़ते-चढ़ते, उपासक ही उपास्यरूपता उसी प्रकार प्राप्य कर लेता है जिस प्रकार दीपक की बत्ती दीपक की लौ के रूप में, तथा वृक्ष की लकड़ी परस्पर रगड़ खाकर अग्नि के रूप में प्रकट हो जाती है।[81]

जैनदर्शन साधक को बार-बार यह परामर्श देता है कि अजीवादि में तथा अशुद्ध जीवावस्था में 'अहम्' या 'मम' की मति छोड़कर शुद्ध परमात्मा के साथ 'सोऽहम्' की भावना को दृढ़ करे तो मुक्ति अवश्यम्भावी है।[82] अज्ञान व आवरण के कारण ही परमात्मा व जीव में भेद दृष्टिगोचर होता है। शुद्ध निश्चयनय या परमार्थदृष्टि से जीवात्मा भी शुद्ध चिद्रूप है। साधक इस परमार्थ दृष्टि का ही अवलम्बन ले और परमात्मा को जीव और जीव को परमात्मा—दोनों को एक समझे, तो इस समभाव से शीघ्र निर्वाण प्राप्त कर लेता है—

73. पद्मनन्दि पंच. 4/1, हेम. योगशास्त्र-10/1, नियमसार-40 पर ता. वृत्ति, अध्यात्मसार-18/74
74. पद्मनन्दि पंच. 4/26, 11/42, तत्त्वानुशासन-234, 236, इष्टोपदेश-49, समाधिशतक-35, ज्ञानसाराष्टक-12/1, योगसार प्राभृत-5/40, मोक्षप्राभृत-5, नियमसार-7
75. द्र. ब्रह्मसूत्र-1/4 शांकर भाष्य। समयसार 390 व 404 पर आत्मख्याति टीका, एवं समयसारकलश-235
76. छान्दोग्य उप. 6/8/7
77. बृहदा. उप. 1/4/10
78. छान्दोग्य उप. 7/24/1
79. बृहदा. उप. 4/3/33
80. श्रुत्वा तत्त्वमसीत्यपास्य दुरितं ब्रह्मैव सम्पद्यते (सर्वदर्शन-संग्रह—शांकरदर्शन, पृ. 466)।
81. अमितगति द्वात्रिंशिका-29, समाधिशतक-27-28, 97-98
82. नियमसार-96, समयसार 297, समयसारकलश-185, 271, समाधिशतक-23, 28, 43

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो जिणु सो अप्पा मुणहु, इहु सिद्धंतह सारु ।
इउ जाणे विण जोइयहो छंडहु मायाचारु ।।[83]

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु ।
इउ जाणे विणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु ।।[84]

एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहि भवतीरु ।।[85]
सुद्धु सचेयणु बुद्धु जिणु केवलणाणसहाउ ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहहु सिव लाहु ।।[86]

उपनिषद् आदि में कहा गया है कि ब्रह्म 'विज्ञानघन' है,[87] उसी प्रकार मुक्ति में मात्र 'ज्ञानघनता' ही अवशिष्ट रहती है—ऐसा जैन मत है ।[88]

संक्षेप में, वेदान्त (शांकर) तथा जैनदर्शन—दोनों में अन्य मत-भेद होने पर भी इस बात में ऐकमत्य है कि अद्वैतानुभूति ही मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधन है, और उस अद्वैतानुभूति के लिए परमार्थदृष्टि का अवलम्बन करना आवश्यक है ।

पुष्प-सूक्ति-कलियाँ

- धर्म वह है, जो धारण करे ।
- मानव को, समाज को, राष्ट्र को और समस्त संसार को, जो अपनी शक्ति, मर्यादा व संविधि से धारण-रक्षण व संपोषण करने में समर्थ है, वही वास्तव में धर्म है ।
- धर्म वह है, जिसे जीव मात्र धारण कर सके ।
- वह धर्म जल की तरह सब के लिए समान उपयोगी है, उसमें किसी भी प्रकार के भेद की कल्पना नहीं की जा सकती । जो भी उसे धारण करे, वही सुख व शांति का लाभ कर सके, उसी का नाम है धर्म ।

83. योगसार (योगीन्दु)-21,
84. योगसार-22
85. योगसार-24
86. योगसार-26
87. बृहदा. उप. 2/4/12
88. समयसार-15 पर आत्मख्याति, समयसार कलश-13, 244-45

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org